

मुक्तिबोध और आधुनिकता

समाज में आधुनिकता की कई परिभाषाएँ मिलती हैं। इसे अक्सर परंपरा विरोधी कहा जाता है। हकीकत यह है कि आधुनिकता परंपरा को पूरी तरह खारिज नहीं करती। बल्कि उसकी सड़ी गली मान्यताओं या रूढ़ियों का विरोध करती है। इसी क्रम में वह नई परंपरा का विकास करती है। आधुनिकता रूढ़ियों को तोड़कर नई परंपरा का विकास करने के लिए इतिहास बोध का सहारा लेती है। दरअसल आधुनिकता वर्तमान में खड़े व्यक्ति को इतिहास के आलोक में खुद को एवं अपने युग को परिभाषित करने की शक्ति देती है।

आधुनिकता व्यक्ति को अपने परिवेश पर लगातार नजर रखने और नकारात्मक शक्तियों से टकराने के लिए प्रेरित करती है। रामधारी सिंह दिनकर आधुनिकता को “अंधविश्वास से बाहर निकलने, नैतिकता में उदारता बरतने और बुद्धिवादी बनने की प्रक्रिया” कहते हैं। गौर से देखें तो आधुनिकता का चरित्र संघर्षशील है।

आधुनिकता का संघर्षशील चरित्र पूंजीवाद के लिए घातक था। इसलिए पूंजीवादी समाज में आधुनिकता को पूंजीवादी स्वार्थ के अनुरूप व्याख्यायित किया गया। इस दृष्टिकोण के तहत आधुनिकता को औद्योगिक विकास के साथ जोड़कर देखा गया। गौर करें कि औद्योगिक विकास ने ही समाज में व्यक्तिवादिता, अकेलेपन, संत्रास जैसी प्रवृत्तियों को जन्म दिया था। अतः आधुनिकता को औद्योगिक विकास के साथ जोड़कर देखने के कारण संत्रास, घुटन, अकेलेपन जैसी प्रवृत्तियों को आधुनिकता का लक्षण माना जाने लगा। आधुनिकता की यह अवधारणा पश्चिम में तैयार हुई। हिंदी साहित्य में इस आधुनिकता का प्रवेश शीतयुद्धीय राजनीति के तहत हुआ।

मुक्तिबोध के युग में मोटे तौर पर आधुनिकता के दो प्रकार नजर आते हैं। एक पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित सौंदर्यवादी आधुनिकता और दूसरी संकीर्णताओं से टकराने वाली संघर्षशील आधुनिकता। मुक्तिबोध संघर्षशील आधुनिकता के पक्षधर थे। इस आधुनिकता की जड़ें 19 वीं सदी के नवजागरण में देखी जा सकती हैं।

नवजागरण के केंद्र में बुद्धिवाद था। नवजागरणकालीन बुद्धिवाद में मानवतावादी चेतना समाहित थी। प्राचीन दार्शनिक प्लेटो ने बुद्धिवाद को स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के साथ जोड़कर देखा था। पर औद्योगिक क्रांति के बाद इससे मानवता का तत्व बाहर होता गया और इस पर विज्ञान हावी होता गया। पर 19वीं सदी के नवजागरण के केन्द्र में मौजूद बुद्धिवाद के तार प्लेटो के विचारों से जुड़े हुए हैं। इस बुद्धिवाद से विकसित वैज्ञानिक बुद्धि ने 19वीं सदी के भारत में मौजूद सांप्रदायिकता, अंधविश्वास, जातिवाद पर चोटें की और बुद्धिजीवियों को सांस्कृतिक दायित्व का ऐहसास दिलाते हुए इतिहास में जाकर वर्तमान की समस्याओं का हल निकालने और तर्क की कसौटी पर चीजों को कसने के लिए प्रेरित किया। पर नवजागरणकालीन चेतना की लहर वक्त के साथ ठंडी पड़ गयी। इस चेतना के वाहक बुद्धिजीवियों को पूंजीवाद ने अपनी चपेट में ले लिया। जिसके चलते बुद्धिजीवी स्वार्थ, प्रतिद्वंद्विता के दलदल में फंस गए और नवजागरणकाल में देखा गया समानता, बंधुत्व और संकीर्णता से मुक्ति का सपना बिखर गया। मुक्तिबोध ने इसी सपने को पूरा करने का संकल्प लिया। इस क्रम में उन्होंने नवजागरणकालीन संघर्षशील आधुनिकता को जगाकर उसमें युगानुरूप नए पहलू जोड़े।

मुक्तिबोध ने नवजागरणकालीन बुद्धिवाद के सहारे अपने युग की तमाम विकृतियों पर प्रहार किया। लोगों में अपनी क्षमताओं के प्रति आस्था जगाने और उन्हें अंधविश्वास से मुक्ति दिलाने के लिए मुक्तिबोध ने तर्क का सहारा लिया। तर्क के आधार पर ही मुक्तिबोध ने ईश्वर की अवधारणा पर चोट करके ईश्वर के स्थान पर मानव विवेक को प्रतिष्ठित किया। यही कारण है कि मुक्तिबोध की ‘एक शून्य के प्रति’ कविता का व्यक्ति “जिंदगी के दलदल कीचड़ में धंसकर” विवेक रूपी कमल तोड़ लाने के बाद ईश्वर से कहता है “मुझे तेरी बिल्कुल जरूरत नहीं है”।

मुक्तिबोध के युग में भारत में परंपरा तथा इतिहास के विरोध की बातें हो रही थीं। ऐसे हालात में मुक्तिबोध ने परंपरा से विकासशील मूल्यों को चुनने की बात की। उनकी नजर में यह कार्य इतिहास बोध के

जरिए किया जा सकता था। उनकी 'एक अंतःकथा' कविता की मां इतिहास बोध की तरह ही है। जो परंपरा रूपी जंगल से सूखे डंठल चुनकर पुत्र अर्थात् भावी पीढ़ी की टोकरी में रख रही है। सूखे डंठल परंपरा के वे विकासशील मूल्य हैं जिनसे क्रांति की आग जलाई जा सकती है। इस लिहाज से देखें तो मुक्तिबोध की आधुनिकता में इतिहास बोध की एक बहुत बड़ी भूमिका है।

मुक्तिबोध के युग में पूंजीवादी दृष्टि से प्रेरित बौद्धिकता को बढ़ावा दिया जा रहा था। यह बौद्धिकता भौतिकतावाद से प्रभावित थी। उसमें संवेदना और मानवीय चेतना की कमी थी। इस बौद्धिकता को धिक्कारते हुए मुक्तिबोध कहते हैं, "हुई बुद्धि निःसंग भव्यता में ही अपनी।" मुक्तिबोध की बौद्धिकता कल्पना, संवेदना और नैतिकता से भीगी हुई थी। संवेदना और नैतिकता की कीमत पर बुद्धि का विलास एक पाश्चात्य मूल्य था। जिसने भारत में सांस्कृतिक संकट पैदा कर दिया था। भारत के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी इसकी चपेट में आ रहे थे। मुक्तिबोध की आधुनिकता समाज की इस समस्या से टकराती है। मुक्तिबोध ने अपनी 'क्लॉड ईथरली' कहानी में संवेदना तथा नैतिकता के दबाव से पैदा हुए आत्मा के संकट को भलीभांति उभारा है।

मुक्तिबोध पूंजीवादी समाज में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी को शोषित निम्न वर्ग की अगुआई करते हुए देखना चाहते थे। पर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का अहं और सुविधाभोगी दृष्टि इस मार्ग में बाधक बन रहे थे। इसलिए मुक्तिबोध ने अहं को तोड़ने के लिए तर्क देते हुए कहा, "अहंकार से सूक्ष्म और स्थूल प्रकार की बेईमानी, अवसरवादिता, दादागिरी, रंगदारी, वाचालता, ढीली जवान, निन्दाप्रचार, असावधानता और जिज्ञासा का सर्वनाश आदि दोष उत्पन्न होते हैं।" मुक्तिबोध मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के अहं को टूटते हुए देखना चाहते थे। इसलिए उनकी 'लकड़ी का बना रावण' कविता में अहंकार का पुतला चरमरा कर गिरने की आशंका से ग्रस्त है।

व्यक्तिवाद की समस्या से भी मुक्तिबोध की आधुनिकता टकराती है। व्यक्तिवादियों का भाववादी तरीके से संसार की व्याख्या करना मुक्तिबोध को पसंद नहीं था। उनका मानना था कि भाववादी दृष्टि से सामाजिक समस्या का सुनिश्चित हल नहीं निकाला जा सकता। व्यक्तिवादियों की आत्मबद्धता से भी मुक्तिबोध को शिकायत थी। व्यक्तिवाद से लड़ने के लिए मुक्तिबोध ने वैज्ञानिक चेतना तथा मानवतावादी चेतना के बीच सामंजस्य स्थापित करने की जरूरत महसूस की।

मुक्तिबोध के समय के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी भौतिकतावाद के शिकंजे में फंसकर अपनी नैतिकता खोते जा रहे थे। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की दयनीय दशा को मुक्तिबोध ने अपनी 'पक्षी और दीमक' कहानी में बड़े साफ ढंग से उभारा है। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी को भौतिकतावाद के शिकंजे से मुक्ति दिलाने के लिए मुक्तिबोध की आधुनिकता ने आत्मबल तथा कर्मशीलता के विकास पर जोर दिया।

मुक्तिबोध नयी कविता में व्यक्त होने वाले अनास्था और अविश्वास के भावों से असंतुष्ट थे। उन्होंने अनास्था और अविश्वास पर विजय पाने के लिए साहित्य को सभ्यता के मूलभूत प्रश्नों से जोड़ने की बात कही।

नयी कविता के दौर में 'नये' की मनमानी व्याख्याएं पेश की जा रही थीं। जिसके चलते सामाजिक मूल्यों में भी गिरावट आती जा रही थी। साथ ही साहित्यकारों में लक्ष्यहीनता के चलते सांस्कृतिक शून्य भी पैदा हो गया था, जिसके कारण हिंदी के साहित्यकार पाश्चात्य विचारधाराओं की शरण में जा रहे थे। ऐसे हालात में मुक्तिबोध ने साहित्यकारों में मौलिक दृष्टि के विकास की जरूरत महसूस की। साथ ही उन्होंने साहित्य में नए सौंदर्यबोध की प्रतिष्ठा की भी बात कही। यह सौंदर्यबोध समाज से कटे हुए पूंजीवादी सौंदर्यबोध के ठीक विपरीत था। इसका संबंध जनसाधारण से था। नए सौंदर्यबोध की प्रतिष्ठा के क्रम में ही मुक्तिबोध ने वर्ग विशेष तक सीमित सौंदर्याभिरुचि को जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि कहकर धिक्कारा। जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि की यह भी एक खासियत है कि वह शैली विशेष को महत्व देती है। साहित्य को केवल कला के परिप्रेक्ष्य में देखना मुक्तिबोध को मंजूर नहीं था। वे साहित्य को समग्रता में देखना चाहते थे। दरअसल मुक्तिबोध का सौंदर्यबोध साहित्य को समाज से जोड़नेवाला सौंदर्यबोध है। वह सौंदर्य के प्रतिमानों को युगानुरूप बदलने की अपील करता है। इस

सौंदर्यबोध के विकास में मुक्तिबोध की बुद्धिवाद से प्रेरित आधुनिक दृष्टि की एक बहुत बड़ी भूमिका रही है। यह दृष्टि सौंदर्यबोध में जीवनानुभव की हिस्सेदारी को महत्व देती है।

साहित्य मुक्तिबोध के लिए संघर्ष की उपज थी। उनका मानना था कि साहित्य को जन्म देते हुए साहित्यकार तीन क्षणों से गुजरता है। पहले क्षण में साहित्यकार बाहरी तत्वों को आत्मसात करता है। दूसरे क्षण में आत्मसात किये गए तत्व जीवन मूल्यों के साथ मिलकर लेखन में अभिव्यक्ति की छटपटाहट पैदा करते हैं और तीसरे क्षण में यह छटपटाहट शब्द और स्वर का सहारा पाकर साहित्य का रूप लेने लगती है। इन क्षणों से गुजरते हुए साहित्यकार को आत्मसात किए गए बाहरी तत्वों के संवेदनानुसारी पहलू को बरकरार रखने के लिए हर पल संघर्ष करना पड़ता है। इस तरह जीवनानुभव को साहित्य में ढालकर साहित्यकार जीवन की पुनर्चना करता है।

पूंजीवादी समाज में जीवन काफी जटिल हो गया था। इस जटिल जीवन की पुनर्चना साहित्यकार के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती थी। इस चुनौती को स्वीकार करते हुए मुक्तिबोध की आधुनिक चेतना ने मिथकों के सहारे आधुनिक जीवन का जटिल यथार्थ पेश किया। मसलन ब्रह्मराक्षस का मिथक देखा जा सकता है। माना जाता है कि कम उम्र में मृत्यु को प्राप्त होने वाला अविवाहित ब्राह्मण कुमार प्रेत योनी में जन्म ग्रहण करके ब्रह्मराक्षस बनता है। मुक्तिबोध ने इस मिथक का प्रयोग अपने युग के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के लिए किया। उनके युग के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी में नवजागरणकालीन लोकहितकारी चेतना तो थी पर जनसाधारण से घुल-मिलकर उनकी समस्याओं को सुलझाने वाली व्यवहारिकता नहीं थी। उसकी लोकहितकारी चेतना के कारण वह ब्राह्मण सा लगता है। पर केवल अपनी दुनिया तक ही सीमित रहने के कारण वह प्रेत सा लगता है। इसलिए मुक्तिबोध ने बुद्धिजीवी के लिए ब्रह्मराक्षस का मिथक चुना, और इसके सहारे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के यथार्थ जगत को पेश किया।

मुक्तिबोध अपने समाज की दुर्दशा के लिए साहित्य और राजनीति की दृष्टिहीनता को जिम्मेदार मानते हैं। उनका मानना था कि साहित्य और राजनीति जब तक परिवार से सामंती मूल्यों को बाहर खदेड़ने के लिए नई दृष्टि पेश नहीं करती तब तक समाज को बेहतर नहीं बनाया जा सकता। दरअसल मुक्तिबोध ने राजनीति और समाज के संबंध को अन्योन्याश्रित माना है। उनकी नजर में जहाँ राजनीति सकारात्मक दृष्टि के जरिए पारिवारिक मूल्यों में बदलाव लाकर समाज को बदल सकती है, वहीं जनमत को भ्रष्ट राजनीति के खिलाफ संगठित करके राजनैतिक हालात भी बदल सकती है। पर भारत में जनमत बदलने के लिए भी सामंती मूल्यों से टकराना जरूरी था। मुक्तिबोध के युग में तो ये सामंती मूल्य राष्ट्रीय आंदोलन में भी घुस गए थे। इतना ही नहीं पूंजीवादी मूल्यों से इनका विकट मेलबंधन भी हो गया था। उस पर इन सामंती मूल्यों की साम्राज्यवाद से गठजोड़ देखकर मुक्तिबोध ने बेहद दुख के साथ कहा, “सामंती तत्वों ने सामाजिक-राजनैतिक धरातल पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद से अटूट समझौता कर रखा था, फिर भी उच्चकुलोद्भव कुछ सामंती तत्व राष्ट्रवादी आंदोलन में भी आए और कांग्रेस के भीतर उन्होंने राष्ट्रीय पूंजीवाद से समझौता किया। अर्थात् कुल मिलाकर सामंती तत्वों के प्रति जो आमूल परिवर्तनकारी व्यापक उग्र प्रतिक्रिया होनी चाहिए थी वह नहीं हुई।” मुक्तिबोध यह बहुत अच्छी तरह जानते थे कि साम्प्रदायिकता की समस्या की जड़ें इन सामंती मूल्यों में ही थीं। लोगों की धर्मांधता से पैदा होने वाली इस साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का पहले अंग्रेजों ने, फिर पूंजीपति वर्ग ने अपनी सुविधा के लिए इस्तेमाल किया। मुक्तिबोध इस हकीकत से भी वाकिफ थे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित किए बगैर भारत को एक मजबूत राष्ट्र नहीं बनाया जा सकता। तभी उन्होंने अपनी पुस्तक ‘भारत : इतिहास और संस्कृति’ में न सिर्फ इस्लाम का वास्तविक अर्थ बताया बल्कि उस बिंदु की भी खोज करने की कोशिश की जहाँ से हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का सूत्रपात हुआ।

मुक्तिबोध की संघर्षशील आधुनिकता भारतवासियों को मानसिक, राजनैतिक तथा आर्थिक सभी दृष्टियों से स्वतंत्र देखना चाहती थी। मानसिक और राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए मुक्तिबोध की आधुनिकता जहाँ सामंती मूल्यों और साम्राज्यवाद से टकराती है वहीं भारत को आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र बनाने के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने की अपील भी करती है। मुक्तिबोध जानते थे कि भारतीय अर्थव्यवस्था को कमजोर बनाने के लिए अंग्रेजों ने सबसे पहले गांव की आत्मनिर्भरता तोड़ी और कारीगरों को भी बर्बाद किया। लेकिन आजादी के बाद हालात सुधरने चाहिए थे पर अफसोस तो इस बात का है कि आजादी के बाद भी सत्ताधारी वर्ग ने विदेशी पूंजी के निवेश को बढ़ावा दिया। तभी मुक्तिबोध ने कहा, “स्वतंत्र होने पर भी हमारा देश आर्थिक दृष्टि से अभी गुलाम है।” विदेशी पूंजी के निवेश की बात छोड़ दीजिए हिंदी साहित्य में तो विदेशी मूल्यों को भी जगह दी जा रही थी। मुक्तिबोध की नजर में यह मानसिक गुलामी थी। इससे मुक्ति पाने के लिए मुक्तिबोध ने राष्ट्र और समाज के प्रति प्रतिबद्धता को जरूरी समझा। साहित्यकारों को गुलामी से मुक्ति दिलाने के लिए मुक्तिबोध जहाँ प्रतिबद्धता और मौलिक चेतना की जरूरत महसूस करते थे वहीं साहित्यकार की रचनाशीलता को सत्ता के हस्तक्षेप के बगैर पनपने देने की जरूरत को भी महसूस करते थे। इस बात की जरूरत मुक्तिबोध ने सन् 1962 में विकट रूप से महसूस की जब मध्यप्रदेश सरकार ने उनकी पुस्तक ‘भारत : इतिहास और संस्कृति’ पर प्रतिबंध लगा दिया।

राष्ट्रीय जागरण को बढ़ावा देते हुए मुक्तिबोध की आधुनिकता ने हल्के ढंग से ही सही लेकिन नारी मुक्ति का सवाल भी उठाया। उनकी ‘मैत्री की मांग’ कहानी की सुशीला और ‘जिन्दगी की कतरन’ की निर्मला की विवशता में राष्ट्र के उत्थान के लिए नारी मुक्ति के सवाल पर विचार करने की जरूरत का मुद्दा छिपा है। ‘जिन्दगी की कतरन’ की निर्मला के बारे में मुक्तिबोध कहते हैं, “वह स्वाधीन होना चाहती थी, किन्तु पढ़ी-लिखी न थी।” निर्मला की विवशता को उभारने वाला यह कथन नारी को शिक्षित देखने की मुक्तिबोध की चाह को भी अप्रत्यक्ष रूप से उभारता है।

पूंजीवादी समाज ने जहाँ मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी को सुविधाभोगी बना दिया था, वहीं सामंती अहं ने उसे जनसाधारण से काट दिया था। इसके चलते मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अकेलेपन का अभिशाप भोग रहे थे। इसी वजह से मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों में व्यक्तित्व की समस्या पैदा हुई। उनकी सोच ‘स्व’ के घेरे में बंध गई थी। जिसके चलते उन्हें वैयक्तिकता और सामाजिकता परस्पर विरोधी नजर आने लगी थी। ऐसे हालात में मुक्तिबोध ने व्यक्तित्व में सामाजिकता लाने की जरूरत महसूस की। इसके लिए व्यक्ति का परिवेश के प्रति सचेत होकर उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना जरूरी था। साथ ही परिवेश में हो रहे परिवर्तनों के साथ खुद में बदलाव लाने की भी जरूरत थी। मुक्तिबोध व्यक्ति और समाज का ऐसा संबंध चाहते थे जिसमें “व्यक्ति अपनी ही खोज में समाज को ढूंढता है, समाज के विकास की परीक्षा करता है और इस प्रकार उसकी परीक्षा करते हुए अपनी परीक्षा करता है।” इस लिहाज से देखें तो मुक्तिबोध की आधुनिकता ने वैयक्तिकता और सामाजिकता से समन्वित व्यक्ति के निर्माण का सपना देखा। पर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के व्यक्तित्व में तब तक सामाजिकता नहीं आ सकती थी जब तक वह अहं और सुविधाभोगी प्रवृत्ति का त्याग न करे। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के चरित्र में बदलाव लाने के लिए मुक्तिबोध ने व्यक्तित्वांतरण का रास्ता अपनाने की बात की। व्यक्तित्वांतरण व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के तहत व्यक्ति कठिन आत्मसंघर्ष और अंतर्द्वंद्व से गुजरकर सामाजिकता हासिल करता है।

मुक्तिबोध के युग के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की जनसाधारण से विच्छिन्नता ने उनके ज्ञान को अव्यवहारिक बना रखा था। इन बुद्धिजीवियों के प्रति मुक्तिबोध का कथन था, “ज्ञान रूपी दांत जिंदगी रूपी नाशपाती में गड़ना चाहिए, जिससे कि संपूर्ण आत्मा जीवन का रसास्वाद कर सके।” ज्ञान के दांत जब जीवन में गड़ते हैं तब संवेदना पैदा होती है। ज्ञान से संवेदना के विकास की प्रक्रिया आसान नहीं है। इसी संदर्भ में मुक्तिबोध ने

ज्ञानात्मक संवेदना तथा संवेदनात्मक ज्ञान की अवधारणाओं की बात की है। इन अवधारणाओं पर गौर करें तो ज्ञान और संवेदना अपने विकास के लिए एक दूसरे पर निर्भर नजर आते हैं। व्यक्ति समाज का दृष्टा बनकर ज्ञान अर्जित करता है। जब दृष्टा रूप में अर्जित ज्ञान को व्यक्ति जीवन मूल्यों की कसौटी पर कसकर सामाजिक संबंधों की बारीकियों को महसूस करता है, तब संवेदना का जन्म होता है। यह ज्ञानात्मक संवेदना है। यह संवेदना ज्ञान के अव्यवहारिक पक्षों से टकारकर नए ज्ञान का विकास करती है। यह संवेदनात्मक ज्ञान है। गौर करें तो इस प्रक्रिया से गुजरते हुए व्यक्ति को एक खास नजरिया मिलता है। मुक्तिबोध के अनुसार खोई हुई नवजागरणकालीन प्रगतिशीलता को वापस लाने के लिए मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का इस प्रक्रिया से गुजरना जरूरी था।

मुक्तिबोध के समय तक पूंजीवाद ने भारत में अपनी जड़े भलीभांति जमा ली थीं। समाज को बेहतर बनाने में जुटे बुद्धिजीवियों के मानस से नवजागरणकालीन मूल्यों के धीरे-धीरे मिट जाने का दर्द मुक्तिबोध में देखा जा सकता है। मुक्तिबोध ने अपने साहित्य के जरिए सामज में मानवीय रिश्तों की गर्मी और संवेदना की नमी लाने की कोशिश की। वे मार्क्सवादी विचारधारा के सहारे पूंजीवादी मूल्यों से टकारते हैं। लेकिन गौर करने लायक बात यह है कि मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद को हूबहू नहीं अपनाया बल्कि अपने अनुभव द्वारा संचित ज्ञान के जरिए मार्क्सवाद में युगानुरूप नए तत्व जोड़े। मसलन शोषक, शोषित संघर्ष को ही लें। मुक्तिबोध ने शोषितों को पूंजीपतियों से सीधे लड़ते हुए नहीं दिखाया। बल्कि मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी को अपने ज्ञान के जरिए शोषितों को जागरूक बनाने की बात की है। दरअसल मुक्तिबोध ने शोषक-शोषित संघर्ष में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की भूमिका स्पष्ट करके मार्क्सवाद को नए ढंग से व्याख्यायित किया।

पूंजीवाद साहित्य को सौंदर्य तथा कला संबंधी प्रश्नों से जोड़कर उसे समाज से काट देता है। ऐसा करके पूंजीवाद यथास्थितिवाद को बनाए रखने की कोशिश करता है। मुक्तिबोध ने साहित्य के जरिए समाज को बदलने का सपना देखा था। यही कारण है कि वे पूंजीवादी समाज में यथास्थितिवाद को बनाए रखने वाली विचारधारा से टकारते हैं। सत्ताधारियों द्वारा फैलाई जाने वाली यह विचारधारा बुनियादी चीजों से लोगों का ध्यान हटाकर संघर्ष की संभावनाओं को खत्म करने में लगी रहती है। इससे टकारने के क्रम में मुक्तिबोध की आधुनिक चेतना ने युग की महत्वपूर्ण मांगों की ओर ध्यान खींचा। साहित्य के जरिए समाज के हालात बदलने के लिए उन्होंने साहित्यकारों में विश्वदृष्टि के होने की जरूरत महसूस की। मुक्तिबोध की नजर में इस विश्वदृष्टि का समाज और यथार्थ से संबद्ध होना भी जरूरी था। मुक्तिबोध यह अच्छी तरह जानते थे कि विश्वदृष्टि से ही विश्वस्वप्न पनपते हैं और व्यक्ति को प्रगतिशील बनाए रखने में उसके स्वप्न बहुत बड़ी भूमिका निभाते हैं। तभी पूंजीवाद व्यक्ति में सपनों को जिन्दा रहने नहीं देता। यही कारण है कि मुक्तिबोध सपनों को बचाए रखने की बात करते हैं।

पूंजीवाद ने न सिर्फ सपनों के मर जाने बल्कि इतिहास के अंत की भी घोषणाएं कीं। पर मुक्तिबोध के लिए इतिहास बोध एक कम्पास है जो भविष्य निर्माण को संघर्ष की दिशा देता है। मानव में छिपी संभावनाओं का पता भी मानव संघर्ष के इतिहास से ही चल सकता है। मुक्तिबोध ने इतिहास की इस प्रगतिशील भूमिका को पहचाना और पूंजीवाद विरोधी संघर्ष में इसे अपना हथियार बनाया।

पूंजीवाद के प्रभाव से निर्मित स्वार्थपूर्ण व्यक्तित्व में सामाजिकता लाने के लिए मुक्तिबोध ने लगातार आत्मसंघर्ष करने पर जोर दिया। इस आत्मसंघर्ष के बगैर पूंजीवादी समाज में सुविधा भोगी बन जाने का खतरा बना रहता है। इसलिए मुक्तिबोध के साहित्य का व्यक्ति आत्मसंघर्ष में रत दिखाई देता है। यह आत्मसंघर्ष दरअसल व्यक्तित्वांतरण की प्रक्रिया का अंग है। इस प्रक्रिया से गुजरने के बाद व्यक्ति समाज के प्रति खुद को प्रतिबद्ध महसूस करता है। सामाजिक समस्याओं पर विचार करता है और अपनी राय देते हुए तटस्थ नहीं रह पाता।

मुक्तिबोध के समकालीन 'नयी कविता' के कवियों ने अनुभूति को समाज से काटकर आत्मबद्ध ढंग से व्याख्यायित किया। इन कवियों ने जब समाज से कटी हुई आत्मबद्ध अनुभूति को कला का रूप दिया तब कविता आत्मालाप बनकर रह गई। इस युग में कुछ बुद्धिजीवी स्वार्थ के वशीभूत होकर कृत्रिम संवेदना के सहारे भी साहित्य लिख रहे थे। इस समस्या से निपटने के लिए मुक्तिबोध ने साहित्य में व्यक्तिगत ईमानदारी बरतने की बात कही। इसे परिभाषित करते हुए मुक्तिबोध कहते हैं, "ईमानदारी का अर्थ है, आत्मपरक और वस्तुपरक खरी-खरी और खड़ी-खड़ी बात जो एकदम वास्तवाधारित हो और वास्तव का उद्घाटन कर दे।" मुक्तिबोध की आधुनिक चेतना ने अपने युग की वायवीय अनुभूति को वास्तव का आधार दिया। ऐसा करके उन्होंने न सिर्फ साहित्य को आत्मालाप बनने से रोकने की कोशिश की बल्कि साहित्यकारों को अपनी ईमानदारी को जांचने का पैमाना भी दिया। इसलिए नामवर सिंह का मुक्तिबोध के बारे में कहना है, "मुक्तिबोध ने ईमानदारी को आत्मनिष्ठता के दलदल से निकालकर वस्तुनिष्ठता की ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित किया और ईमानदारी की 'सत्यता' के प्रश्न को जोड़कर मूल्यांकन के लिए एक वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक औजार प्रदान किया।" पूंजीवादी समाज में रहकर साहित्य में व्यक्तिगत ईमानदारी बरतना एक बहुत बड़ी चुनौती थी। हालात के हाथों मजबूर होकर सच्चे अनुभवों को गुहावास दे देने की ट्रेजेडी से मुक्तिबोध वाकिफ थे। इसलिए मुक्तिबोध ने लेखकों में इच्छाशक्ति के विकास की जरूरत महसूस की। इसी क्रम में मुक्तिबोध ने संवेदनात्मक उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्ध रहने की बात भी कही। संवेदनात्मक उद्देश्य व्यक्ति द्वारा संचित अनुभवों से विकसित जीवन मूल्य हैं। यह व्यक्ति को तटस्थ नहीं रहने देते। मुक्तिबोध की आधुनिक चेतना अपने युग के बुद्धिजीवियों को संवेदनात्मक उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्ध देखना चाहती थी।

मुक्तिबोध के युग के बुद्धिजीवियों का पाश्चात्य विचारधाराओं के प्रति रुझान मुक्तिबोध के लिए असहनीय था। पश्चिम की व्यक्तिवादिता, अकेलेपन, व्यक्तिस्वातंत्र्य और लघुमानव की अवधारणाओं से मुक्तिबोध का विरोध था। पश्चिम की अस्तित्ववादी विचारधाराओं में ये बातें मिलती हैं। गौर करने लायक बात यह है कि अकेलापन, संत्रास, निराशा मुक्तिबोध में भी है लेकिन उसका संदर्भ अस्तित्ववादियों के संदर्भ से अलग है। अस्तित्ववादी विचारक सार्त्र व्यक्ति के अकेले होने को उसकी नियति मानते हैं। लेकिन मुक्तिबोध के अनुसार व्यक्ति का अकेला होना उसके अहं और सुविधाभोगी प्रवृत्तियों का प्रतिफल है। अपने व्यक्तित्व में सामाजिकता लाकर बुद्धिजीवी अकेलेपन की पीड़ा से मुक्त हो सकता है। मुक्तिबोध का व्यक्ति अकेलेपन और निराशा को नियति मानकर बैठा नहीं रहता बल्कि उसे दूर करने के लिए संघर्ष करता है। संघर्षशील चेतना के अभाव में ही पश्चिम की आधुनिकतावादी विचारधारा में व्यक्ति की छवि लघु दिखाई देती है। मुक्तिबोध का व्यक्ति नियति द्वारा निर्धारित सीमा को नहीं मानता इसलिए वह लघुमानव नहीं है। वह प्रगतिशील चेतना से अनुप्राणित 'समूह मानव' है। वह केवल अपनी स्वतंत्रता की मांग नहीं करता बल्कि हर व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से फलते फूलते हुए देखना चाहता है। अनुशासन के बगैर ऐसी स्थिति पैदा करना संभव नहीं है। इसलिए मुक्तिबोध अनुशासनहीन व्यक्तिस्वातंत्र्य का विरोध करते हैं। उनका कहना है, "जिस प्रकार कला अपने अभ्यंतर नियमों के कठोर अनुशासन के बिना अपंग या विकृत होती है, अथवा अभाव बनकर रहती है, उसी प्रकार व्यक्तिस्वातंत्र्य अपनी अंतरात्मा के कठोर नियमों के अनुशासन के बिना निरर्थक और विकृत हो जाता है, खोखला हो जाता है।" पूंजीवादी समाज में जो व्यक्तिस्वातंत्र्य पनप रहा था वह खास वर्ग तक सीमित था। इसलिए मुक्तिबोध ने इसका विरोध किया।

मुक्तिबोध की आधुनिक चेतना ने न सिर्फ साहित्य को नया वस्तु तत्व दिया बल्कि उसे नया शिल्प भी दिया। साहित्य जगत में मुक्तिबोध का फैंटेसी शिल्प बेहद प्रसिद्ध है। उन्होंने फैंटेसी को अनुभव की कन्या कहा है। फैंटेसी एक झीने परदे की तरह है जिसके भीतर से यथार्थ की छवि झांकती हुई दिखाई पड़ती है। फैंटेसी यथार्थ की रेखाओं को कल्पना के रबड़ से मिटाकर इस तरह तैयार की जाती है कि केवल यथार्थ का मर्म ही

जिन्दा रहता है और स्थूल चीजें गायब हो जाती हैं। कल्पना के चलते फैंटेसी पाठकों को आकर्षित करती है। पूंजीवादी दौर में जब व्यक्ति चीजों को सरसरी निगह से देखकर आगे बढ़ जाता है तब व्यक्ति के कौतूहल को बढ़ाकर उसे यथार्थ की गहराई में ले जाने के लिए फैंटेसी जैसे शिल्प की ही जरूरत पड़ती है। यह एक गौर करने लायक बात है कि फैंटेसी एक भाववादी शिल्प है और मुक्तिबोध ने उसका प्रयोग यथार्थ को प्रकाशित करने के लिए किया। भाववादी फैंटेसी शिल्प में यथार्थ का मिश्रण ही मुक्तिबोध की शिल्प चेतना को आधुनिक साबित करता है।

मुक्तिबोध की शिल्प संबंधी आधुनिक चेतना कला के रूढ़ प्रतिमानों से टकराती है। यही कारण है कि मुक्तिबोध अभिव्यक्ति संबंधी संघर्ष की बात करते हैं। साहित्यिक क्षेत्र में पहले से प्रतिष्ठित कलारूप नए कलारूपों को प्रतिष्ठित नहीं होने देना चाहते। ये पूर्वग्रह बनकर रचनाकार को नया कलारूप अपनाने से रोकते हैं। सच्चा साहित्यकार हर पल इन पूर्वग्रहों से टकराता है। अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करता है। मुक्तिबोध ने भी यह संघर्ष झेला है और अपनी अनुभूति के अनुरूप यथार्थ की छवि पेश की। अनुभूत सत्यों को समेटने के कारण ही उनकी कविताएं लंबी हैं। अपने युग के साहित्यकारों से अलग लंबी कविताएं लिखने के कारण वे आरोपों के घेरे में रहे, पर अनुभूत सत्यों के प्रति ईमानदार रहने के कारण वे एक सफल साहित्यकार कहलाए।

मुक्तिबोध की आधुनिकता का एक पहलू यह भी है कि उनके आरंभिक कविताओं के बिम्ब ही बाद में चलकर प्रतीक बन गए। मसलन उसकी 'आत्मा के मित्र मेरे' तथा 'खोल आंखें' कविताओं में नए सत्यों की बात कहने के लिए बालक के बिम्ब का प्रयोग किया गया था और उनके रचनाकाल के अंतिम चरण की कविता 'अंधेरे में' में बालक नए सत्यों का प्रतीक बन गया है। गौर करें कि बिम्बों से प्रतीक बनने में वर्षों लग जाते हैं, पर मुक्तिबोध ने अपने छोटे से रचनाकाल में ही यह अद्भुत कार्य कर दिखाया। यह उनकी शिल्पगत आधुनिकता का एक बहुत बड़ा प्रमाण है। मुक्तिबोध के प्रतीकों की एक और खासियत यह है कि वे मिथक के स्तर तक पहुंच गए हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हिन्दी के पाठक आज 'ब्रह्मराक्षस' को कम उम्र में मृत्यु को प्राप्त होकर प्रेत यानि में जन्म लेने वाले अविवाहित ब्राह्मण कुमार के रूप में कम और पूंजीवादी समाज में जनसाधारण से कटे हुए मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के रूप में ज्यादा जानते हैं। मिथक के स्तर तक विकसित होने के अलावा मुक्तिबोध के प्रतीक बहुस्तरीय यथार्थ को प्रकाशित करने, इतिहास बोध से सम्बद्ध होने तथा सामाजिक प्रतिबद्धता के कारण आधुनिक कहें जा सकते हैं।

मुक्तिबोध ने हिन्दी साहित्य को अभिव्यक्ति की नई तकनीकें दी हैं। पहली, अमूर्त से मूर्त को उभारने की तकनीक। दूसरी, अनुभूत सत्य को एक शब्द या वाक्य में संप्रेषित करने के बजाए शब्दों की बमबारी की तकनीक। तीसरी, 'मैं' और 'वह' के बीच बहस की तकनीक। पहली तकनीक पाठकों के कौतूहल को बनाए रखने में मददगार साबित होती है। दूसरी तकनीक कवि की बात का असर पाठकों के भीतर तब छोड़ती है। और तीसरी तकनीक बहस के बहाने एक ही बात पर अलग-अलग दृष्टिकोणों से प्रकाश डालती है। इससे काव्य में नाटकीयता का आकर्षण भी पैदा होता है।

विधाओं के दायरे को तोड़ना मुक्तिबोध की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसलिए श्रीकांत वर्मा का मुक्तिबोध के बारे में कहना है, "मुक्तिबोध ने साहित्य की हर विधा को इतना तोड़ दिया कि रचना स्वयं अपने मूल्यों को ललकारने लगती है।" 'विपात्र' कहानी इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। यह कहानी यथार्थ अनुभूति की बहुस्तरीयता तथा जटिल कथ्य के कारण उपन्यास तथा अपने छोटे आकार और एक शिक्षा केन्द्र तक सीमित रहने के कारण कहानी लगती है। अतः 'विपात्र' के विधा के निर्धारण में कठिनाई पैदा होती है। ठीक उसी तरह 'अंधेरे में' कविता भी जटिल यथार्थ के संप्रेषण के कारण महाकाव्य लगती है पर जीवन के विविध पहलुओं के चित्रण के अभाव के कारण महाकाव्य नहीं कहला सकती। गौर करें तो 'विपात्र' और 'अंधेरे में' दोनों ही क्रमशः

कहानी, उपन्यास और महाकाव्य को पुनर्परिभाषित करने की मांग पैदा करते हैं। यही बात मुक्तिबोध के शिल्प को आधुनिक साबित करती है।

मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष, व्यक्तित्व के विकास के प्रति सचेतनता, समाज के प्रति प्रतिबद्ध शिल्प चेतना उन्हें अपने समकालीनों में विशिष्ट साबित करते हैं। मुक्तिबोध के समकालीनों में अज्ञेय, नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह तथा केदारनाथ अग्रवाल प्रमुख थे। मुक्तिबोध की आधुनिक चेतना इन सबसे अलग है। अज्ञेय की आधुनिकता से मुक्तिबोध की आधुनिकता का फर्क देखिए। अज्ञेय पश्चिम के आधुनिकतावादी दर्शन से प्रभावित थे। अतः उन्होंने अपने साहित्य में व्यक्तिवाद, क्षणवाद, लघुमानव की अवधारणा जैसे तत्वों को जगह दी। लेकिन मुक्तिबोध की आधुनिकता संघर्षशील तथा प्रगतिशील आधुनिकता थी। वह व्यक्ति और काव्यशिल्प को समाज से काटकर देखने के विरोधी थे। मुक्तिबोध की संघर्षशील चेतना इतिहास बोध से प्रेरित होकर व्यक्ति को असीम संभावनाओं का पुंज मानती है। अतः मुक्तिबोध का व्यक्ति नियति के हाथों का खिलौना नहीं है। इसलिए उसे लघुमानव नहीं कहा जा सकता। चीजों को समग्रता में देखने के कारण मुक्तिबोध क्षणवाद पर विश्वास नहीं रखते। यह बात भी उनकी आधुनिकता को अज्ञेय की आधुनिकतावादी सोच से अलगाती है।

मुक्तिबोध और अज्ञेय के साहित्य में पाए जाने वाले तनाव में भी फर्क है। अज्ञेय का तनाव एक ठंडे मिजाज में ढल जाता है और मुक्तिबोध का तनाव व्यक्ति को उत्तेजित करके उसे क्रांति की राह अपनाने के लिए मजबूर करता है। मुक्तिबोध केवल समाज में ही क्रांति लाने के इच्छुक नहीं थे बल्कि वे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के व्यक्तित्व में भी क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने व्यक्तिवांतरण की बात की। व्यक्तित्व को सामाजिक बनाने की यह चाह अज्ञेय में नहीं मिलती। उनके लिए अस्तित्व की रक्षा का सवाल ही महत्वपूर्ण है। दरअसल अज्ञेय नयी कविता की आधुनिकतावादी धारा के कवि थे, यह काव्यधारा पश्चिम की अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित थी और मुक्तिबोध नई कविता की प्रगतिशील धारा के कवि थे। इस धारा में संघर्षशील चेतना का विशेष महत्व था।

मुक्तिबोध के समकालीन 'नयी कविता' के प्रगतिशील धारा के कवियों में शमशेर, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल शामिल हैं। ये कवि मार्क्सवादी चेतना से अनुप्राणित थे। लेकिन शोषक-शोषित संघर्ष में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की भूमिका स्पष्ट करके मार्क्सवाद में नया अध्याय जोड़ने का काम मुक्तिबोध ने ही किया। यह सच है कि नागार्जुन सी व्यंग्य चेतना तथा गंवई भावबोध और केदारनाथ अग्रवाल जैसा मस्तमौलापन और प्राकृतिक चेतना और शमशेर के समान बात को मनमोहक ढंग से कहने का अंदाज मुक्तिबोध में नहीं था। पर जड़ बने हुए मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को जगाने की जो कठिन कोशिश मुक्तिबोध में पाई जाती है, वही उन्हें अपने समय के प्रगतिशील धारा के कवियों से अलगाती है। मुक्तिबोध पूंजीवाद के प्रभाव से विकृत हो चुके समाज को बेहतर बनाने के लिए समस्याओं के जड़ों की तलाश करते हैं, सामाजिक विकृतियों से टकराते हैं और ऐसा करते हुए वे अपने व्यक्तित्व को भी संशोधित करते हैं। लेकिन ऐसी तीव्र बेचैनी मुक्तिबोध के समकालीन कवियों में नहीं मिलती। नागार्जुन में बेचैनी से ज्यादा गुस्सा है, जो व्यंग्य का रूप ले लेता है। शमशेर विकृत समाज के विपरीत प्रेम और सौंदर्य का एक प्रतिसंसार खड़ा करते हैं। केदारनाथ अग्रवाल भी नागार्जुन की तरह खरी-खरी बोलने और गंवई धरती के सौंदर्य में रमकर पूंजीवादी समाज की विकृतियों का विरोध करते हुए नजर आते हैं। गौर करने लायक बात यह है कि मुक्तिबोध के समकालीन प्रगतिशील धारा के कवियों ने पूंजीवादी मूल्यों से पैदा हुई विकृतियों के प्रति विरोधपूर्ण रवैया अपनाया, पर मुक्तिबोध ने पूंजीवादी मूल्यों से टकराने के लिए समाज और साहित्य को एक दृष्टि देने की कोशिश की है। यह दृष्टि निष्क्रियता के कगार तक पहुँचे हुए मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों में नवजागरणकालीन संघर्ष चेतना जगाने की ताकत रखती थी। इस लिहाज से देखा जाये तो मुक्तिबोध ने निश्चित रूप से नवजागरणकाल के गुजरने के बाद से ठप्प पड़ी हुई आधुनिकता की परियोजनाओं को आगे बढ़ाने का महत्वपूर्ण प्रयास किया।